जाति के बारे में बच्चों का नज़रिया

ऋषभ कुमार मिश्र

इस लेख में 12 से 15 वर्ष के बच्चों से जाति के मुद्दे पर हुई बातचीत को प्रस्तुत किया गया है। इस बातचीत के आधार पर लेखक बताते हैं कि शिक्षा द्वारा जातिगत भेदभाव को बढ़ावा देने वाले विभिन्न व्यवहार और समझ कैसे पुनरुत्पादित होती जाती है। वे यह भी बताते हैं कि वयस्क और शिक्षक इन बातों को जाने-अनजाने पोषित ही करते हैं। स्कूल का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि वे शिक्षा को समावेशी बनाएँ और विद्यार्थियों को चिन्तनशील व तार्किक, लेकिन स्कूल ऐसा कर पाने में सक्षम नहीं हो पा रहे हैं। सं.

हमारे समाज में जाति, सामाजिक अस्मिता को परिभाषित करने वाला एक प्रमुख चर है। इसका प्रभाव सार्वजनिक अन्तःक्रियाओं, चाहे बाज़ार, पंचायत या स्कूल हो, में हर जगह देखा जा सकता है। हम अपने आसपास की दैनिक गतिविधियों का अवलोकन करें तो पाएँगे कि लोग जिस जाति से सम्बन्धित होते हैं, उसकी पहचान को लेकर सचेत होते हैं। वास्तव में, वे अपनी जातीय अस्मिता के वाहक होते हैं। वे न केवल इसके द्वारा पहचाने जाते हैं बल्कि स्वयं इस पहचान का दावा भी करते हैं। इनका प्रभाव हमारी आम ज़िन्दगी पर इतना गहरा है कि रोज़मर्रा के कार्यों के दौरान जब अलग-अलग जातीय समूहों के लोग आपस में मिलते-जुलते हैं तो वे एक दूसरे की इस सामूहिक अस्मिता के बारे में जानने के लिए उतावले रहते हैं। किसी समूह के विषय, उनके विश्वास और मत के आधारों में 'जाति' एक महत्त्वपूर्ण आधार होती है।

जातीय अस्मिता की एक विशेषता इनमें व्याप्त ऊँच-नीच (हायरार्की) का भाव है। अमूमन ऐसा होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जातीय समूह को बेहतर मानता है और अन्य समूहों के बारे में पूर्वाग्रहों और रूढ़ियों के आधार पर अपनी श्रेष्ठता पर विश्वास करता है। इस प्रवृत्ति के कारण जाति, विभेद का एक बड़ा कारक बन जाती है और अकसर एक दूसरे के बारे में नकारात्मक छवियों का प्रसार करने का माध्यम भी। परिवार, समुदाय और जनसंचार के माध्यमों द्वारा जाति से जुड़े पूर्वाग्रहों और रूढ़ियों को पुनर्बलन भी मिलता है। और इन सबके परिणामस्वरूप आपसी अन्तःक्रियाओं के बीच अविश्वास, विद्वेष, पूर्वाग्रह, शोषण और वर्चस्व जैसी नकारात्मक प्रवृत्तियों को भी पोषण मिलने लगता है।

जाति-आधारित ये नकारात्मक प्रवृत्तियाँ न चाहते हुए भी वयस्कों के जीवन का हिस्सा बन जाती हैं। ऐसा कह सकते हैं कि कुछ हद तक शुरुआती उम्र में बच्चों के बीच इसको लेकर कोई भेदभाव नहीं होता है, और वे एक दूसरे को दोस्त या हमउम्र साथी मानकर अन्तःक्रिया करते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि बच्चे पढ़ते, खेलते या अन्य क्रियाकलाप करते हुए जातीय अस्मिता से अप्रभावित रहते हैं और यह भी कि स्कूल, किताबों, कक्षा शिक्षण आदि के द्वारा जाति के आधार पर भेदभाव को समाप्त

करने का प्रयत्न किया जा रहा है, लेकिन वास्तविकता यह है कि बच्चे अपने परिवार से लेकर विद्यालय और समुदाय तक जाति के विविध अनुभवों के भागीदार बनते हैं। वे अपने परिवेश में जाति की व्याप्त समझ और उसपर आधारित सामाजिक अन्तःक्रियाओं के पैटर्न से जूझते रहते हैं। साथ ही स्कूलों में 'न दिखने वाली पाठ्यचर्या' भी इस विभेद को बनाने का काम करती है और इस तरह इसको क़ायम भी रखती है। हालाँकि सतही तौर पर स्कूल, किताबों, कक्षा शिक्षण आदि के द्वारा जाति के



चित्र : हीरा धुर्वे

आधार पर भेदभाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता रहा है किन्तु गहराई से परखने पर जाति विभेद की लकीरें साफ़ नज़र आती हैं। इस पृष्ठभूमि में यह लेख चर्चा करता है कि सामाजिक अस्मिता के एक चर के रूप में बच्चे जाति को कैसे समझते हैं? बच्चों की सामाजिक दुनिया जाति-आधारित भेद को कैसे पुनरुत्पादित और मज़बूत कर रही है? इन प्रश्नों की पड़ताल के लिए ग्रामीण परिवेश के तीन विद्यालयों के विद्यार्थियों के साथ समूह चर्चा की गई। 6 से 8 बच्चों के प्रत्येक समूह में 12 से 15 वर्ष के बच्चे शामिल थे। जाति की दृष्टि से देखें तो ये तीनों समूह मिश्रित प्रकार के थे, जिनमें अलग-अलग स्थानीय जातियों के बच्चे शामिल थे। एक अर्द्ध-संरचित प्रश्नावली के माध्यम से इन तीनों ही समूहों के साथ उपरोक्त प्रश्नों के सन्दर्भ में चर्चा का आयोजन किया गया। इन केन्द्रित समूह चर्चाओं को इस लेख में प्रस्तुत किया गया है।

विभेद-आधारित जातीय अस्मिताओं की निरन्तरता

केन्द्रित समूह चर्चा के भागीदार विद्यार्थी 'जाति' की अवधारणा से भली-भाँति परिचित थे। समूह चर्चा का आरम्भ इस सवाल के साथ किया गया कि आप लोग जाति के बारे में क्या जानते हैं। विद्यार्थियों ने सवाल सुनते ही जातियों के नाम गिना दिए। उदाहरण के लिए :

विद्यार्थी 1 : "ब्राह्मण, क्षत्रिय, तेली, हरिजन।"

विद्यार्थी 2 : "मिश्रा, त्रिपाठी, यादव, वर्मा।"

विद्यार्थी 3 : "सिंह, राय, शुक्ला, पटेल, यादव।"

यहाँ देख सकते हैं कि विद्यार्थियों ने वर्ण व्यवस्था के प्रचलित वर्गों– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को जाति नहीं बताया, बल्कि उन जाति-संज्ञाओं का प्रयोग किया जो स्थानीय समुदाय में प्रचलित थीं। बच्चों ने इन जाति-संज्ञाओं को एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न जातीय समुदायों का प्रतिनिधित्व माना है। उनके विचारों में जातियों के बीच भेद को स्वाभाविक मानने की प्रवृत्ति दिखती है। वे जातीय समूहों की ऐतिहासिक निरन्तरता की ओर संकेत करते हैं। इसे निम्नलिखित उद्धरणों द्वारा समझा जा सकता है :

विद्यार्थी 1 : "जाति व्यवस्था पुराने जमाने से है।"

शिक्षक : "कब से?"

विद्यार्थी 1 : "जब से मनुष्य है। इसे मनुष्य ने ही बनाया है।"

विद्यार्थी 1 : "सबकी जाति होती है।"

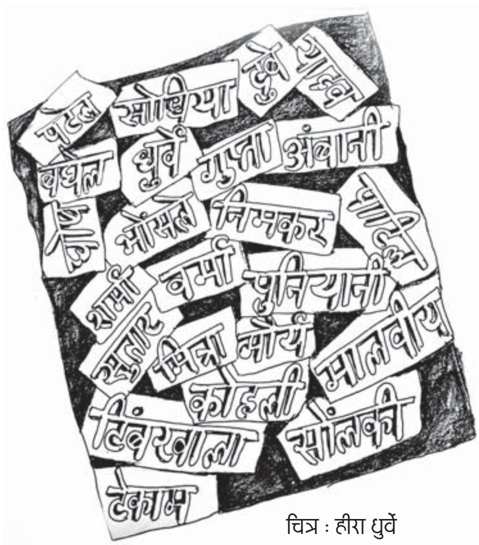
विद्यार्थी 2 : "जो जिस परिवार में पैदा होता है, उसकी जाति वही होती है।"

विद्यार्थी 3 : "जाति के बिना कोई इंसान नहीं हो सकता है।"

उपर्युक्त कथनों में देख सकते हैं कि विद्यार्थियों में जाति को लेकर निश्चयात्मक और दृढ़तावादी सोच है। यह सोच जाति-आधारित विभाजन को वैध बनाती है। इस सन्दर्भ में उच्च जाति वर्ग के समूह के एक भागीदार का कथन देखिए : "पहले सभी जातियाँ अलग-अलग रहती थीं। इसी कारण गाँव में आज भी अलग-अलग जातियों के अलग-अलग पुरवे हैं।" इस समूह के विद्यार्थी इसके समर्थन में तर्क देते हैं कि इससे एक जाति के लोगों को अपने लोगों के साथ रहने का मौक़ा मिलता है। वे बताते हैं, 'मौक़ा' पड़ने पर लोग एक दूसरे का सहयोग करते हैं। दूसरी जातियों से भी सहयोग मिलता है लेकिन उसकी प्रकृति अलग होती है। यह सहयोग तब माँगा जाता है जब अपनी जाति के लोगों से कोई ज़रूरत पूरी नहीं हो पाती है।" इस तरह के विचार अपने समूह से सम्बद्धता का उदाहरण हैं जहाँ सामाजिक सम्बन्धों में अपने समूह के सदस्यों को वरीयता दी जाती है। समूह से सम्बद्धता का यह भाव आगे चलकर जाति के मानकों को स्वीकार करने, उसे वैध मानने और उसके अनुकूल व्यवहार करने की 'आदत' को जन्म देता है। इसके प्रभाव में भागीदार एक 'अस्वाभाविक' संरचना को 'स्वाभाविक' मानने लगता है।

'शुद्धता और विशिष्टता' का बोध

जातियों के रीति-रिवाज और कर्मकाण्ड 'शुद्धता और विशिष्टता' के बोध को जन्म देते हैं। ये जातीय विभेद के सबसे कारगर उपकरण होते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण निम्नलिखित उद्धरणों में देख सकते हैं– "ब्राह्मण पूजा करते हैं" और "ब्राह्मण जनेऊ पहनता है, इसलिए पूजा करता है।" उल्लेखनीय है कि विद्यार्थियों द्वारा केवल इसी जाति से सम्बन्धित रीति-रिवाजों का उल्लेख किया गया। इसका पहला कारण यह है कि वे अपने परिवेश में सर्वाधिक इन्हीं प्रवृत्तियों का उल्लेख पाते हैं। दूसरा, मिश्रित समूह की सार्वजनिक चर्चा में केवल ऊँची जाति की 'प्रस्तुति' एक स्वाभाविक चलन है जिसका सतत पुनरुत्पादन हो रहा है। इस चर्चा के दौरान एक विद्यार्थी ने अपना व्यक्तिगत अनुभव साझा किया– "मैंने पापा से पूछा कि मोनू के पापा पूजा नहीं करते तो वे ब्राह्मण कैसे हुए। मेरे पिता ने बताया कि वे जनेऊ पहनते हैं।" यह भी अवलोकनीय रहा कि इस बिन्दु पर चर्चा के दौरान केवल ब्राह्मण या अन्य ऊँची जाति के विद्यार्थी ही बोल रहे थे। शिक्षा संस्थानों में, जहाँ इस विषय पर आलोचनात्मक चिन्तन की गुंजाइश थी, वहाँ इस विभेद को मज़बूत किया जाता है। मसलन, एक



चित्र : हीरा धुर्वे

विद्यार्थी ने साझा किया कि चूँकि वह ब्राह्मण है इसलिए बहुत सारे अध्यापक उसे पैर छूकर प्रणाम नहीं करने देते हैं। जबकि दूसरी जाति के विद्यार्थियों के द्वारा ऐसा किए जाने पर वे मना नहीं करते हैं।

जाति-आधारित विभाजन को उचित ठहराते हुए भागीदार विद्यार्थियों ने अपनी ही जाति में शादी करने का पक्ष भी लिया। इसके समर्थन में परिवार और समुदाय का सहयोग और स्वीकृति का तर्क था। यह उल्लेखनीय है कि सभी जाति समूहों के विद्यार्थियों ने दूसरी जाति में शादी न करने के कारणों में अपने-अपने समुदायों में

सामाजिक बहिष्करण के उदाहरणों को साझा किया। इसके समान्तर ही वे दूसरी जाति में शादी के दुष्परिणामों की चर्चा जनसंचार माध्यमों के उदाहरण से करते हैं। वे बताते हैं, "जो युवा दूसरी जातियों में शादी करते हैं। उन्हें मार दिया जाता है।" और "उन्हें पुलिस और थाने के चक्कर लगाने पड़ते हैं।" विद्यार्थियों की ये प्रतिक्रियाएँ अस्वाभाविक नहीं हैं बल्कि वे अपने इस फ़ैसले से जातीय समूह की विशिष्टता को क़ायम रखना चाहते हैं।



चित्र : हीरा धुर्वे

श्रेष्ठता और हीनता के द्वन्द्व के बीच प्रतिरोध

विद्यार्थियों के विचार जातीय अस्मिता के आधार पर स्वयं को श्रेष्ठ और अन्य को हीन मानने का भी प्रमाण देते हैं। हमारे सामाजिक ताने-बाने में उच्च जातियाँ उच्च आत्म-सम्मान (सेल्फ़-एस्टीम) और उच्च आत्म-प्रभावकारिता (सेल्फ़-एफ़िकेसी) को धारण करती हैं जबकि दूसरे समूहों के साथ इसके विपरीत स्थिति होती है। इसी प्रवृत्ति का अवलोकन समूह चर्चाओं के दौरान भी किया गया। मसलन, पूरी समूह चर्चा के दौरान उच्च जाति के विद्यार्थी अपनी जातीय संज्ञाओं का उल्लेख करने में झिझक नहीं रहे थे जबकि 'अन्य' मौन थे। यह 'मौन' कमज़ोर आत्म-सम्मान (लो सेल्फ़-एस्टीम) और कमज़ोर आत्म-प्रभावकारिता (लो सेल्फ़-एफ़िकेसी) को दर्शाता है। इस 'कमज़ोर' अस्मिता के प्रतिरोधस्वरूप इस समूह के बच्चे अन्य पिछड़ा वर्ग और अनुसूचित जाति जैसी संज्ञाओं का प्रयोग करते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में जातीय अस्मिता की ये 'पहचानें' बदलाव, गतिशीलता और प्रतिरोध की प्रतिनिधि हैं और इनके प्रयोग से वे ख़ुद को अपेक्षाकृत मज़बूत जातीय समूह का प्रतिनिधि मानते हैं। फिर भी, इस संवैधानिक मज़बूती को सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक धरातल पर ख़ारिज कर दिया जाता है। मसलन, विद्यार्थी जातियों की आर्थिक स्थिति में भिन्नता का भी प्रत्यक्षण करते हैं। चर्चा में शामिल बच्चों ने उच्च जातियों को अमीर और निम्न जातियों को ग़रीब बताया। इसके लिए उन्होंने अपने गाँव से उदाहरण दिए। इसके लिए खेत, रोज़गार, गाड़ी और घर जैसे संसाधनों को आधार बनाया। यह भी जोड़ा कि सरकार निम्न जाति के लोगों को घर, अनाज आदि की सुविधा प्रदान कराती है। इन सुविधाओं को 'ग़रीब' की बजाय जातीय संज्ञा के प्रयोग द्वारा समझाया। इसके साथ ही विद्यार्थियों ने साझा किया कि कुछ निम्न जाति के लोग जो सरकारी नौकरी में हैं, उनके पास पक्का घर और गाड़ी है। क्या इन सुविधाओं का होना किसी भी व्यक्ति को जाति-आधारित पायदान में ऊपर पहुँचा सकता है? इस सवाल के बारे में पुनः विद्यार्थियों की निश्चयात्मक सोच थी जिसके अनुसार, "नौकरी या घर से जाति नहीं बदलती।" जाति के न बदलने और उनमें पदानुक्रम होने की सहमति से जुड़े कुछ और भी विचार प्रकाश में आए। मसलन, खेती की ज़मीन की अधिकता के सन्दर्भ में विद्यार्थियों ने ऊँची जातियों का ही उदाहरण दिया :

"ब्राह्मण अमीर और ग़रीब हो सकता है। जिसके पास खेत है और पढ़ाई की है वह अमीर होगा, नहीं तो ग़रीब होगा। फिर भी उसका सम्मान होता है।"

"बनिया ज़्यादातर अमीर होते हैं।"

"राजपूत भी अमीर होते हैं। मेरे गाँव में

राजपूत लोगों के पास खेत, गाड़ी और नौकरी है। उनके बच्चे शहर के अँग्रेज़ी स्कूल में पढ़ने जाते हैं।''

विद्यार्थियों के ये विचार प्रमाण हैं कि विद्यार्थी जातीय श्रेष्ठता और हीनता के लिए आर्थिक संसाधनों को आधार मान रहे हैं। फिर भी, 'आर्थिक हैसियत' में बदलाव के बावजूद जाति-आधारित हायरार्की को वे स्थाई मानते हैं। इसे विद्यार्थियों ने विविध सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्रों में चिह्नित किया है :

शिक्षक : ''ये बताओ कि क्या सब जातियाँ बराबर होती हैं?''

विद्यार्थी 1 : ''नहीं।''

विद्यार्थी 2 : ''ब्राह्मण सबसे ऊपर हैं और मुसहर सबसे नीचे हैं।''

शिक्षक : ''अच्छा तो ये क्यों है?''

विद्यार्थी 1 : ''पता नहीं...''

विद्यार्थी 3 : ''घर में बताया गया है।''

विद्यार्थी 4 : ''कक्षा में भी देखा है।''

विद्यार्थी 5 : ''जैसे मुझे अभी भी बहुत सारे टीचर पैर छूकर प्रणाम करने नहीं देते हैं।''

शिक्षक : ''क्या आपको इसका कारण पता है?''

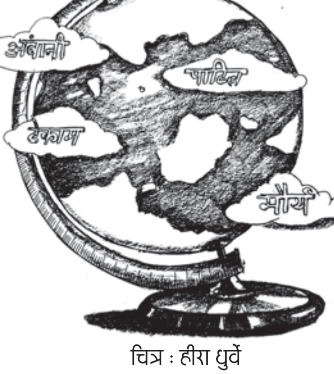
विद्यार्थी 5 : ''मुझे नहीं पता था कि इसका तर्क क्या है।''

विद्यार्थी 3 : ''स्कूल में जब कभी किसी ब्राह्मण स्टूडेंट को पैर लग जाता है तो प्रणाम करते हैं।''

ये उद्धरण जातीय पूर्वाग्रह और रूढ़ियों की गहराई को समझने के लिए पर्याप्त हैं। इसके पोषण में शिक्षक भी भूमिका निभा रहे हैं। भागीदार विद्यार्थियों ने बताया कि शिक्षक भी उनकी जाति जानते हैं। इसके प्रमाण में एक विद्यार्थी ने साझा किया कि जब फॉर्म में भरना होता है तो शिक्षक ख़ुद ही विद्यार्थियों की जाति भर देते हैं। इसपर एक विद्यार्थी ने असहमति व्यक्त की और कहा, ''कभी-कभी हम लोगों से पूछ लेते हैं।'' इसपर दूसरे विद्यार्थी ने कहा, ''सबसे नहीं पूछते हैं। केवल ओबीसी एवं एससी से पूछते हैं। कई बार शिक्षक हम लोगों से घर में पूछने को कहते हैं और जाति प्रमाण-पत्र भी लाने को कहते हैं।''

यहाँ देख सकते हैं कि कक्षा में होने वाली सामान्य बातचीत या काग़ज़ी कार्यवाही के लिए ली जाने वाली सूचना भी जातीय अस्मिता के आधार पर कक्षा को अलग-अलग वर्गों में बाँट देती है।

ऐसे ही औपचारिक शिक्षा और नौकरी के सन्दर्भ में आरक्षण की भिन्न व्याख्याएँ प्रकट हुईं। उच्च जाति के एक विद्यार्थी का कहना था, ''मेरे घर में बारहवीं के बाद प्रवेश परीक्षा पास करने को लेकर बातचीत होती है। उसमें कैटेगरी के नम्बर पर चर्चा होती है।'' यह पूछे जाने पर कि 'कैटेगरी के नम्बर' से क्या आशय है? उसने बताया कि इस वर्ग के विद्यार्थियों का कम अंक पर भी चयन हो जाता है। उसकी इस बात पर कुछ भागीदारों ने अपने व्यक्तिगत अनुभव साझा करते हुए अपने बड़े भाई-बहनों की कुछ परीक्षाओं में असफलता का कारण इसे बताया। इसी मुद्दे पर पिछड़ी और अनुसूचित जातियों के विद्यार्थी 'कम नम्बर' वाले तर्क के प्रति मौन थे। केवल एक विद्यार्थी ने कहा कि वह इस तर्क से सहमत नहीं है। इसे वह 'आरक्षण' से जोड़कर बताता है। उसके अनुसार, आरक्षण एक 'अधिकार' है जिसे बाबा साहेब ने ग़रीबों के विकास



चित्र : हीरा धुर्वे

के लिए संविधान में दिया था। इस प्रकरण में देख सकते हैं कि उच्च जाति के विद्यार्थियों में ‘श्रेष्ठता बोध’ को क़ायम रखने के लिए अधिक अंक और कम अंक का दुष्प्रचार किया जा रहा है। चूँकि यह मामला औपचारिक शिक्षा का है जहाँ संवैधानिक अधिकारों की विश्लेषणात्मक समझ की बजाय दुष्प्रचारों को मान लेने की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के प्रति दूसरे समूह का मुखर न होना पुनरुत्पादनवादी संस्कृति का प्रमाण है। जहाँ वे अपनी उपस्थिति को लेकर मुखर नहीं हैं। पढ़ाई की तरह ही नौकरी ऐसा मुद्दा रहा जिसके सन्दर्भ में आरक्षण की चर्चा हुई। उच्च जाति का एक विद्यार्थी कहता है, “पिछड़ी जातियों को आसानी से नौकरी मिल जाती है।” उसका स्वर इस वर्ग के लिए उपेक्षा भरा था। उसके इस कथन के उत्तर में निम्न जाति के एक विद्यार्थी का उत्तर था, “नौकरी में हर जाति के लिए सीटें निकलती हैं।” और “बाबा साहेब ने नौकरी में आरक्षण दिलाया ताकि हम लोगों की ग़रीबी दूर हो सके।”

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि बच्चों के बीच जातीय विभेद की उपस्थिति शिक्षा और नौकरी के सन्दर्भ में सकारात्मक संवैधानिक हस्तक्षेप की महत्ता को विवाद का कारण बना दे रही है। वे तर्क और प्रमाण-आधारित वैचारिकी से दूर हो रहे हैं और संवैधानिक अधिकारों की सराहना के स्थान पर सामाजिक संरचनागत विसंगतियों के बीच इन्हें अपने जातीय विशेषाधिकारों का हनन मान रहे हैं।



चित्र : हीरा धुर्वे

निष्कर्ष

उपर्युक्त अवतरणों में बच्चों के साथ बातचीत का जो लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया उससे इतना तो स्पष्ट है कि बच्चों के विचारों और विश्वासों पर जाति-बोध का गहरा प्रभाव है। उनकी रोज़मर्रा की गतिविधियाँ और अन्तःक्रियाएँ जातीय विभेद से भरी हुई हैं। वे अपनी जातीय अस्मिताओं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए पूर्वाग्रहों एवं रूढ़ियों को आत्मसात कर रहे हैं। इन व्यवहारों के लिए परिवार, स्कूल और समुदाय में समान रूप से स्वीकृति है। कहीं भी आलोचनात्मक चिन्तन का अवकाश नहीं है। वे बिना जाँचे-परखे या मूल्यांकन किए जाति सम्बन्धित सामाजिक चलन को स्वीकृति दे रहे हैं। इन परिस्थितियों में केवल कक्षा में कुछ प्रकरणों और गतिविधियों के माध्यम से इस प्रवृत्ति को प्रश्नांकित नहीं कर सकते हैं। हमें विचार करना होगा कि जहाँ-जहाँ रूपान्तरण और बदलाव की वैचारिकी है चाहे वह साहित्य हो, जनसंचार माध्यम हों, लोकचिन्तक हों या स्थानीय इतिहास, उनपर बातचीत करनी होगी। यहाँ मामला केवल विविधता से परिचित कराने का नहीं है। इससे तो बच्चे परिचित हैं ही। सवाल है, यह विविधता दो समूहों के बीच विभेद, विद्वेष और ऊँच-नीच का कारण क्यों बन रही है? इसे बिना पूछे और इसका ठोस उत्तर खोजे हम बच्चों को केवल ‘परिचित’ कराएँगे, उन्हें बदलाव का कर्ता बनने के लिए नहीं तैयार कर पाएँगे।

ऋषभ कुमार मिश्र महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा के शिक्षा विभाग में अध्यापक हैं। शिक्षा और समाज से जुड़े विषयों पर लेखन में सक्रिय हैं। इन्होंने केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय से ‘बच्चों की सामाजिक विज्ञान की समझ’ विषय पर शोध कार्य किया है।

सम्पर्क : rishabhrkm@gmail.com